

औषधि विवरण पुस्तिका

वर्षा ऋतु - जुलाई - अगस्त २०१२



ऋतु वर्णन

वर्षा ऋतु के आरंभ में आकाशमंडल पश्चिम दिशा की वायु से लाए हुए मेघों से व्याप्त रहता है। यह मेघ, बिजली की चमक के साथ कुछ बरसनेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले रहते हैं। कोमल - श्याम रंग की घास से वसुधा व्याप्त रहती है। उसपर कदंब, नीम, कुटज, केतकी जैसे वृक्ष रहते हैं। तत्पश्चात् वर्षा की धुवाँधार बारिश से नदियाँ जल से भर जाती हैं। इन नदियों का प्रवाह इतना प्रबल हो जाता है कि तीर पर स्थित पेड़ों को यह उखाड़ देती हैं। तालाबों में कुमुद (श्वेत कमल) एवं नीलकमल खिलने से उनकी शोभा बढ़ती है। तप्त धरतीपर ठंडे तुषारों से युक्त वायु चलती है, जिससे इसके पूर्व ऋतु - ग्रीष्म में तपी हुई जमीन से भाप आने लगती है।

इस ऋतु में जोर की बारिश से कीचड़ जमा रहता है। इसलिए नंगे पैरों से नहीं चलना चाहिए। नदी का जल दूषित रहता है। आकाश से गिरा हुआ जल विषैले प्राणियों के मल, मूत्र, लाला, शुक आदि से मिले हुए होने के कारण विष के समान हो जाता है एवं शालपुष्पादि तथा विषौषधिपुष्पगन्धादि दोषों से दूषित हुई वायु के संपर्क से भी यह जल दूषित हो जाता है। अतः उसका सेवन नहीं करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में जब जोरों की शीतल वायु के साथ बारिश होती है, तब वातावरण में ठंड बढ़ जाती है। वर्षा ऋतु में वातावरण में आए हुए बदलाव के साथ शरीरस्थ दोष स्थिती में भी बदलाव आते हैं। इस ऋतु में वायु के कारण जाठराग्नि दुर्बल हो जाती है, शारीरिक बल में कमी आती है, जिस कारण अप्तिमांध, अजीर्ण, अतिसार, ज्वर, श्वास, कास, प्रतिश्याय, श्लीपद एवं वातविकार जैसे व्याधि दिखते हैं।

सुवर्ण (स्वर्ण) पर्पटी

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०८०१९०

आयुर्वेदीय रसशास्त्र के अंतर्गत चार प्रकार के रसायनों का वर्णन मिलता है, उनमें से एक है, पर्पटी रसायन। पापड की तरह पतली चीज को पर्पटी कहते हैं। पर्पटी रसायन की निर्माण की विशेष पद्धती के कारण इसका विघटन ग्रहणी अवयव के स्तर पर ही हो पाता है, जिसके कारण यह एक तरह का गामित्व समझना चाहिए। पर्पटी निर्माण के समय सहाय्यभूत होने वाले गोमय में उपस्थित गोपित्त का संस्कार भी पर्पटी पर होता है, जिससे पर्पटी के अग्निदीपन एवं पाचन आदि कार्य में लाभ मिलता है।



- ०१ सुवर्ण (स्वर्ण) पर्पटी
- ०२ प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त)
- ०३ कृमिकुठार रस
- ०४ क्रव्याद रस
- ०५ शंखवटी
- ०६ कुटजारिष्ट
- ०७ अभयारिष्ट
- ०८ अग्निपुण्ड्री वटी
- ०९ द्राक्षासव
- १० कनकासव
- ११ कपर्दिक (वराटिका) भस्म
- १२ शंखभस्म
- १३ सिंहनाद गुग्गुल
- १४ योगराज गुग्गुल

हर पर्पटी का प्रधान घटक होता है, कज्जली। केवल कज्जली से निर्मित पर्पटी को रस पर्पटी कहते हैं। कज्जली के साथ प्रयुक्त अन्य घटकों के नाम से विविध पर्पटीयाँ तैयार की जा सकती हैं। इन पर्पटी कल्पों का नामकरण उनमें प्रयुक्त मुख्य कार्यकारी द्रव्य से होता है, जैसे कुटज पर्पटी, स्वर्ण पर्पटी, पंचामृत पर्पटी आदि। अपवाद के रूप में, कज्जली का समावेश न करते हुए भी पर्पटी निर्माण होता है, जैसे श्वेत पर्पटी। इसके निर्माण के बाद का स्वरूप पर्पटी अर्थात् पपड़ी जैसा होने से इसे पर्पटी में समाविष्ट किया गया है।

पर्पटी विधि से तैयार कल्पों में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण कल्प है, सुवर्ण पर्पटी। यह कल्प व्याधि की तीव्र एवं जीर्ण इन दोनों अवस्थाओं में कार्य करता है।

‘अग्नि अधिष्ठानं ..ग्रहणी मता।’ अर्थात् अग्नि अधिष्ठान रहने वाली ग्रहणी पचन संस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रहणी का कार्य है, **‘अपक्वं धारयतिअन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।’** अर्थात्, सेवन किए आहार में से अपक्व अन्न का योग्य काल तक धारण एवं पक्व हुए अन्न को प्रक्रिया के लिए आगे ढकेलना। ग्रहणी में विकृति उत्पन्न होने के कारण अन्न पचन अयोग्य होकर अपक्व अन्न ही आगे ढकेला जाता है। इस अपक्व अन्न निर्मिती से आलस्य, शारीरिक शक्ति का ह्रास, भोजन देर से पचना, शरीर में भारीपन, अन्न का विदाह होना (पेट में जलन, खट्टी डकारे आदि), तथा अत्यधिक प्यास लगना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ग्रहणी रोग की उचित चिकित्सा न होने पर क्षीणता, काश्र्य, दुर्बलता आदि गंभीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी तो सेवन किया हुआ अन्न पचन के अभाव में मलद्वारा वैसे ही बाहर निकलने लगता है।

ग्रहणी रोग की ऐसी अवस्था में अग्निप्रदीपक एवं पाचक औषध से चिकित्सा आवश्यक होती है। अतः इस स्थिति में सुवर्ण पर्पटी साक्षात् ग्रहणी अवयव पर कार्यकर उत्तम दीपन पाचन कार्य करती है। सुवर्ण पर्पटी अग्निवर्धन के साथ ग्रहणी को बल देने का भी कार्य करती है। सुवर्ण पर्पटी का प्रयोग प्रकुपित हुए वातज, पित्तज एवं कफज इन तीनों दोषों से उत्पन्न ग्रहणी में होता है। दोष प्रकोप के अनुसार इसका प्रयोग विविध अनुपान के साथ किया जा सकता है, जैसे पित्त प्राधान्य में घी के साथ, कफ प्राधान्य में मधु के साथ। सुवर्ण पर्पटी राजयक्षा व्याधि में जहाँ धातुओं में क्षीणत्व, बलहानी है, उत्तम लाभकर साबित होती है। इससे जाठराग्नि प्रदिप्त होने

के साथ ही धात्वग्नि भी सुचारु रूप से कार्य करने लगता है। उत्तम आहार रस निर्मिती एवं आहार रस शोषण में वृद्धि के कारण शरीरस्थ धातुओं का पोषण योग्य रूप से होता है, जिससे धातुपुष्टी होकर बल प्रस्थापित होता है। धातु सौष्ठव उचित होने से व्याधिक्रमत्व भी बढ़ता है।

सुवर्ण (स्वर्ण) पर्पटी का उपयोग अतिसार एवं प्रवाहिका में भी होता है। अतिसार में बड़े बड़े एवं पतले दस्त के साथ दुर्बलता, धातु क्षीणता, कृशता आदि लक्षण होते सुवर्ण पर्पटी का उपयोग होता है। इस अवस्था में सुवर्ण पर्पटी आहार के पाचन एवं शोषण में सुधार लाकर धातुक्षीणता को दूर करती है, जिससे शरीर बल बढ़ता है। क्षयजन्य अतिसार में भी सुवर्ण पर्पटी अपने जंतुघ्न कार्य से लाभकर साबित होती है। यहाँ जंतुघ्न शब्द को अँटीबायोटिक्स इस अर्थ से न लेते हुए जिसके कारण सूक्ष्म जीवाणु जीवित नहीं रह सकते ऐसा लेना उचित होगा।

कई बार आतों में उत्पन्न त्रण से सरक्त अतिसार अथवा प्रवाहिका जैसे लक्षण देखने मिलते हैं। सुवर्ण पर्पटी आंत्रज सन्निपात में भी उत्कृष्ट लाभकारी होती है। मुस्ता, गुडूची सत्व जैसे ज्वरघ्न द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग करने से ज्वर वेग धीरे धीरे कम होने लगता है। इसके प्रयोग से आतों में त्रणों की अवस्था पर भी उत्तम नियंत्रण मिलता है।

प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त)

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०५०००७४

प्रवाल, मौक्तिक, शंख, शौक्तिक, कपर्दिक इन पाँच द्रव्यों से बना यह कल्प अमृत के समान प्रभावी होने के कारण, इसे प्रवाल पंचामृत कहा गया है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

प्रवाल भस्म - शीत वीर्यात्मक, पित्तशामक

मौक्तिक भस्म - शीत वीर्यात्मक, दाहशामक, उत्कृष्ट पित्तशामक

शंख भस्म - अग्निदीपन, पाचन, शूलघ्न

शौक्तिक भस्म - पाचन, पित्त का तीक्ष्णत्व कम करनेवाला

कपर्दिक भस्म - अग्निदीपन, पाचन, शूलघ्न, ग्रहणी गामित्व

अर्क क्षीर भावना - तीक्ष्ण, उष्ण, पाचक, सारक

इस कल्प का कार्य आमाशय, संपूर्ण आंत्र, यकृत - प्लीहा एवं वृक्क - बस्ति पर होता है, अर्थात् प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) अन्नवह स्रोतस्, रक्तवह स्रोतस् एवं मूत्रवह स्रोतस् के लिए अत्यंत उपयुक्त कल्प है।

द्रव गुण, यह पित्त का स्वाभाविक गुण है। पित्त का द्रव गुण जब मात्रा से अधिक बढ़ता है, तब वह आहार पचन योग्य रूप से नहीं कर पाता, जिसके परीणाम स्वरूप आहार में विदाह उत्पन्न होता है। बार बार पेट फूलना, खाने के बाद पेट अधिक देर तक भारी रहना, पेट में दर्द होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) का प्रयोग अम्ल रस के साथ करने से पचन में सुधार होकर वातानुलोमन होने में मदद मिलती है, जिससे उदर शूल आदि लक्षणों में राहत मिलती है।

अजीर्ण में अग्निमांघ एवं आम निर्मिती यह संप्राप्ति घटक रहते, प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) अधिक असरदार साबित होता है। विशेषतः यदि अजीर्ण की निर्मिती आम, कफ वृद्धि अथवा साम पित्त से हुई हो, तो यह कल्प उत्तम लाभ देता है। ऐसी अवस्था में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) का प्रयोग निंबू स्वरस अथवा तक्र के साथ करना अधिक लाभदायक होता है।

अम्लपित्त यह व्याधी अन्नवह स्रोतस् का एक प्रमुख व्याधी है, जिसकी दो अवस्थाएँ होती हैं - सामावस्था एवं निरामावस्था। सामावस्था में अम्लास्यता, अग्निमांघ, अरुचि, हल्लास, छर्दि, शिरःशूल, अतिसार आदि लक्षण रहते हैं तथा निरामावस्था में कटु एवं तिक्त आस्यता, विदाह, अग्निवृद्धि यह प्रमुख लक्षण होते हैं।



प्रवाल पंचामृत पित्त के द्रवत्व का शोषण कर अग्निवर्धन करने का कार्य करता है। पित्त की बढ़ी हुई अम्लता कम होने से पाचन क्रिया में सुधार आता है। प्रवाल पंचामृत में प्रयुक्त घटक विकृत पित्त का पाचन एवं शमन करने का कार्य करते हैं। अर्क क्षीर की भावना से यह कल्प 'कफमारुतघ्न' तो बनता ही है, साथही सामपित्त पाचन में भी लाभकर होता है।



भुक्ते जीर्यति यत् शूलं तदेव परिणामजम्।
अर्थात् अन्न के परिणामन के काल में होने वाले शूल को परिणाम शूल कहा जाता है। कफज शूल में इस कल्प से विकृत कफ का पाचन होता है तथा परिणामशूल में इसके प्रयोग से पित्त का बढ़ा हुआ तीक्ष्णत्व एवं उष्णत्व कम हो जाता है तथा शूल तुरंत कम हो जाता है।

आमाशय एवं आंत्र में पित्त के बढ़े हुए उष्णत्व एवं तीक्ष्णत्व से अंतस्त्वचा में सर्वप्रथम दाह उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में कटु रसात्मक

एवं क्षोभजनक खाद्यपदार्थों के सेवन से दाह बढ़ जाता है, साथही शूल भी उत्पन्न होता है। यही स्थिती यदि अधिक समय तक रहे तो आमाशय एवं आंत्र में व्रणोत्पत्ति होती है। इस अवस्था में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) का प्रयोग सुवर्णमाक्षिक भस्म, गुडूची सत्व अथवा शीतसुधा के साथ करने से आमाशय एवं आंत्र में उत्पन्न दाह, शूल एवं व्रण में राहत मिलती है।

पित्तातिसार एवं पित्तज ग्रहणी में पित्त का बढ़ा हुआ द्रव, उष्ण एवं तीक्ष्ण गुण कम करने में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) उपयुक्त है। सुधा वर्ग के घटक द्रव्यों से संपन्न यह योग आमाशय एवं ग्रहणी में उत्पन्न अम्लता एवं तीक्ष्णता को दूर करता है। अतिसार एवं ग्रहणी में दीपन पाचन एवं वातानुलोमन करने में यह कल्प अत्यंत उपयुक्त साबित होता है।

प्रवाहिका में अत्यधिक प्रवाहण के बाद अल्प मात्रा में पिच्छिल मल प्रवृत्ती होना यह प्रमुख लक्षण होते हैं। प्रवाहिका के जीर्ण हो जाने पर इन लक्षणों के साथ अन्न का पचन न होना, पेट फूलना, अरुची आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) प्रवाहिका में प्रयोग करने से विकृत कफ अथवा आम पाचन होकर एवं अग्निदीपन होकर मलप्रवृत्ती सुयोग्य तथा निराम होने में मदद मिलती है। प्रवाहिका में यह कल्प द्राक्षासव अथवा कुटजारिष्ट के साथ प्रयुक्त करने से लाभ मिलता है।

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार मूत्रनिर्मिती की शरुआत आंत्र से होती है। आहार रस से अत्यधिक क्लेद निर्मिती होने से मूत्र में भी क्लेद की उपस्थिती बढ़ने लगती है। इस अवस्था में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) आतों में उत्पन्न अत्यधिक क्लेद का पाचन एवं शोषण में मदद करती है, जिससे मूत्र में स्थित क्लेद भी कम होने में लाभ मिलता है। प्रवाल एवं मौक्तिक जैसे शामक द्रव्यों से मूत्रदाह एवं मूत्रकृच्छ्र जैसे लक्षणों में भी राहत मिलती है।

पचन संस्था के साथ ही प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) अस्थिधातुपर भी कारगर साबित होता है, जिसका प्रमुख कारण है, इसमें उपस्थित सुधावर्ग के घटक द्रव्य। इसका प्रयोग अस्थिधातुवर्धन एवं अस्थिधातु पोषण के लिए होता है। बालकों में अस्थिधातु क्षय की अवस्था में प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) के प्रयोग से उत्तम लाभ मिलता है। सूतिकावस्था में अस्थिधातुक्षय के कारण उत्पन्न बालों का झड़ना, कमर एवं पैरों की हड्डियों में दर्द आदि लक्षणों पर भी प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) उत्तम लाभकर साबित होता है। इसमें उपस्थित स्नुही क्षीर की वजह से अग्रिमांघ दूर होकर आम का पचन शीघ्र हो जाता है, जिससे यह कल्प सामावस्था में भी असरदार साबित होता है।

कृमिकुठार रस

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०८००२९४

‘कुर्यात् कृमिविनाशं च सर्वशं सप्तभिर्दिनेः।’ सभी प्रकार के कृमियों का नाश करनेवाला रसकल्प है कृमिकुठार रस। कृमि तथा कृमियों से उत्पन्न सर्व प्रकार के लक्षणों में यह कल्प उपयुक्त है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

कर्पूर - कृमिघ्न, कफघ्न, सुगंधी

विडंग - कृमिघ्न (विशेषतः प्रकृतिविघात कार्य)

शुद्ध हिंगुल - योगवाही, कृमिघ्न, आमपाचक

पलाश बीज - कृमिघ्न, मूत्रवह स्रोतोगामित्व

कुटज - आंत्रज कृमि नाशक, कंडूघ्न, आमपाचक

त्रायमाण - मलावष्टंभनाशक, अनुलोमक

अजमोदा - कृमिघ्न, दीपन, पाचन, शूलहर, वातानुलोमन

भृंगराज स्वरस - यकृत उत्तेजक, कृमिघ्न

उंदरी स्वरस - कृमिघ्न, शूलघ्न

इस कल्प के लगभग सभी घटक द्रव्य कृमिघ्न है।

चिकित्सा की दृष्टि से कृमियों की चिकित्सा दो प्रकार से की जाती है, प्रकृतिविघात एवं कृमि पातन। प्रकृतिविघात चिकित्सा में शरीर में कृमि बार बार उत्पन्न होने की प्रवृत्ति को नष्ट किया जाता है, जिससे नये कृमियों की निर्मिती रुक जाती है। कृमिकुठार रस, यह कल्प प्रकृतिविघात चिकित्सा में उत्कृष्ट कल्प है।



जिन बच्चों में अथवा व्यक्तियों में मीठी चीजें जैसे गूड, शक्कर, दूध, दही अथवा मांस खाने की आदत होती है, ऐसे बच्चों में अथवा व्यक्तियों में कृमियों की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती ही है। आमाशय में मधुर रसात्मक खाद्यपदार्थों से कफज कृमियों की उत्पत्ति होती है। कफज कृमियों की वजह से अत्यधिक लालासाव, बार बार सर्दि, खौंसी, ज्वर, शिरःशूल, हल्लास, छर्दि, उदरशूल, चेहरे पर सफेद वैवर्ण्य की उत्पत्ति आदि लक्षण नजर आते हैं। कृमिकुठार रस का प्रयोग सुवर्ण वसंत मालती, ए-फ्लू-ओ-सिल फोर्ट अथवा महासुदर्शन काढा के साथ करने से लाभ होता है।

पुरीषज कृमियों की निर्मिती मलवर्धक द्रव्य जैसे उडद, अंकुरयुक्त धान्य, विविध प्रकार के शाक, मटर, निष्पाव आदि के बार बार सेवन से होती है। पुरीषज कृमियों की उत्पत्ति पक्वाशय एवं ग्रहणी में होती है, जिससे मलविबंध अथवा पतले दस्त, गुदप्रदेश में तोदवत वेदना, गुदकण्डू, आध्मान, काश्य आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कृमिकुठार रस का प्रयोग कुमारी आसव नं. १ अथवा द्राक्षासव के साथ करने से पुरीषज कृमियों का पतन अथवा विरेचन हो जाता है।

अजीर्ण रहते अन्न सेवन, विरुद्धान्न सेवन, शाक सब्जियों का अत्यधिक सेवन आदि हेतुओं से रक्तज कृमियों की निर्मिती होती है। रक्तज कृमियों की वजह से केश, श्मश्रु, रोम का झड़ना, त्वचा पर वैवर्ण्य एवं विविध त्वचा विकारों की उत्पत्ति होती है।

त्वचा विकारों में कृमियों की चिकित्सा का अनन्यसाधारण महत्व है। कुष्ठ अथवा त्वचा विकारों में शुष्क एवं स्रावी ऐसे दो प्रमुख प्रकार मिलते हैं। इन दोनों प्रकारों में कृमिकुठार रस उपयुक्त है। विचर्चिका, किटिभ कुष्ठ आदि त्वचा विकारों में त्वक् दुष्टीजन्य लक्षण जैसे त्वक् कण्डू, साव अथवा शुष्कता, वैवर्ण्य, दाह, फुंसियों की उत्पत्ति नजर आती है। स्रावी त्वचा विकारों में कृमिकुठार रस का प्रयोग अमृतारिष्ट एवं अमृतादि गुग्गुल के साथ लाभदायक होता है, तथा शुष्क त्वचा विकारों में कृमिकुठार रस का प्रयोग महामजिष्ठादि काढा एवं पंचतित्त घृत गुग्गुल के साथ करने से उत्तम लाभ मिलता है।

श्वित्र व्याधि, त्वचा में उत्पन्न श्वेत वैवर्ण्य से पहचानी जाती है। इस व्याधि की चिकित्सा में भी कृमि यह एक हेतु समझकर कृमिकुठार रस का प्रयोग स्वायंभुव गुग्गुल एवं महामजिष्ठादि काढा के साथ करने से लाभ होता है।

तारुण्यपिटिका, अरुंधिका, दद्रु अथवा दाद आदि क्षुद्र कुष्ठ के प्रकारों कृमिकुठार रस में का प्रयोग अमृतादि गुग्गुलु, खदिरारिष्ट अथवा महामंजिष्ठादि काढा के साथ करने से लाभ मिलता है।

शीतपित्त एवं उदर में पुरीषज कृमि भी एक हेतु होता है। इन व्याधियों में त्वचा पर लाल रंग के चकत्ते, तीव्र कण्डू एवं दाह उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में कृमिकुठार रस का प्रयोग आरोग्यवर्धनी, गंधक रसायन एवं महामंजिष्ठादि काढा के साथ देना इष्ट है।



कृमिकुठार केवल कृमिपातन ही नहीं बल्कि, कृमिविघातकर होने के कारण उसे आधुनिक शास्त्रानुसार ५ या ६ दिन न देकर विकृत दोष बलानुसार त्वचाविकार ठीक होने तक अन्य औषधियों के साथ निरंतर देना उचित होता है। बार बार कृमिविघात कर चिकित्सा अवश्य लाभ ही देती है, कोई भी नुकसान नहीं पहुँचाती।

कार्श्य विकार का प्रमुख हेतु अग्निमांघ है, लेकिन कृमियों की उत्पत्ति भी इसका एक अहं हेतु होता है। ऐसी स्थिति में कृमिकुठार रस का प्रयोग कर विरेचक कल्प जैसे अभयारिष्ट, अविपत्तिकर चूर्ण आदि का इस्तमाल करना अधिक उपयुक्त होता है। इससे कृमियों का शौच से बाहर निकलना आसान होता है तथा अग्निदीपन होने से भूख भी बढ़ती है।

त्वक् विकारों की तरह पाण्डु व्याधि में भी कृमिकुठार रस महत्वपूर्ण साबित होता है। इसीलिए पाण्डु व्याधि में लोह कल्पों के प्रयोग से पहले कृमिकुठार रस का प्रयोग अवश्य करें। पाण्डु की अवस्था जल्द सुधरने में मदद मिलती है।

क्रव्याद रस

‘क्रव्याद’ शब्द यह काक पक्षी अर्थात् कौंअे का पर्यायी शब्द है। जिस तरह कौआ किसी भी गुरु पदार्थ को अतिशीघ्र एवं विना कष्ट हजम कर सकता है, उसी तरह क्रव्याद रस जठराग्निदिप्त कर किसी भी गुरु, स्निग्ध पदार्थ का तुरंत पचन करता है।

अत्यंतगुरुभोज्यानि गुरुमांसान्यनेकशः।

भक्षयेत्कंठापर्यंतं ततो देयो रसोत्तमः।।

योगरत्नाकर ग्रंथ में अजीर्ण चिकित्सा अध्याय में क्रव्याद रस का

उपरोक्त वर्णन मिलता है। इस कल्प की निर्मिती श्रीलंका के राजा के लिए की गई थी, जिसे अत्यंत मांसाशन, गुरु पदार्थ सेवन एवं बार बार भोजन करने की आदत थी।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

कज्जली - योगवाही, रसायन
ताम्रभस्म - यकृत गामित्व, पित्तसावी, विषघ्न, रक्तवर्धक
लोहभस्म - रक्तवर्धक, बल्य, रसायन
पंचकोल - अग्निदीपन, आमपाचक
मरिच - प्रमाथी, आमपाचक, कटु, उष्ण, तीक्ष्ण
अम्लवेतस, जंबीरी निंबू, चणकाम्ल - अम्ल, उष्ण, अग्निदीपन, आमपाचक, रुचिकर

आमाशय में उपस्थित जठराग्नि यदि प्राकृत हो, तो अन्न का पचन योग्य स्वरूप से होता है तथा उसका परिणामन प्राकृत आहार रस एवं उत्कृष्ट धातुओं में होता है। परंतु यही जठराग्नि यदि मंद हो, तो आहार का पचन योग्य तरह से न होकर ‘आम’ निर्मिती होती है। ऐसी स्थिति में यदि गुरु, स्निग्ध, मधुर रसात्मक खाद्यपदार्थ अथवा मांस का सेवन किया जाए, तो जठराग्नि और भी मंद हो जाती है जिससे अत्यधिक आम निर्मिती होती है।

क्रव्याद रस में उपस्थित ताम्रभस्म, लोहभस्म, पंचकोल, मरिच, अम्लवेतस, जंबीरी निंबू एवं चणकाम्ल की वजह से यह कल्प उत्कृष्ट अग्निदीपक, आमपाचक एवं शूलघ्न समझा जाता है। यह कल्प विशेषतः मांसाशन, गुरु - स्निग्ध पदार्थ सेवन से उत्पन्न अजीर्ण एवं आम निर्मिती में अत्यंत उपयुक्त होता है।

दोषस्थिती का यदि विचार किया जाए, तो कफवातात्मक लक्षण के साथ उत्पन्न जठराग्निमांघ तथा आम निर्मिती की अवस्था में यह कल्प लाभ देता है। परंतु पित्तप्रधान लक्षण रहते, यदि इस कल्प को प्रयोग में लाया जाए, तो इससे लक्षणों में उपशय न होते हुए वृद्धि होने की संभावना रहती है। अतः क्रव्याद रस का प्रयोग पित्तप्रधान अवस्थाओं में करना ही हो तो योग्य अनुपात एवं काल में युक्तिपूर्वक करें।

अविपक्वो ऽग्निमान्द्येन यो रसः स निगद्यते।

रोगाणां प्रथमो हेतुः सर्वेषामामसंज्ञया।।

योगरत्नाकर इस ग्रंथ में अजीर्ण व्याधी का उपरोक्त वर्णन पाया जाता है। जठराग्निमांघ की वजह से आहार का पचन यथायोग्य न होकर विकृत रस अथवा आम निर्मिती होती है। यही आम सभी प्रकार के रोगों का प्रमुख हेतु है।

अग्निमांघ, अजीर्ण, आमनिर्मिती से उत्पन्न सभी विकारों में क्रव्याद रस विशेष प्रभावी कल्प है। विशेषतः आम तौर पर प्रायः दिखनेवाले आमाजीर्ण एवं रसशेषाजीर्ण, इन दो अजीर्ण प्रकारों में उदरगौरव, हृल्लास, अंगसाद, उदरशूल, अतिसार अथवा मलविबंध आदि लक्षण रहते 'क्रव्याद रस' उपयुक्त होता है।

ग्रहणी एवं अर्श विकार का मूल हेतु जठराग्निमांघ होने से, चिकित्सा में दीपन एवं पाचन औषधियों का प्रयोग ही लाभ देता है। ऐसी अवस्था में क्रव्याद रस का प्रयोग द्राक्षासव के साथ करने से अग्नि प्रदिप्त तो होता ही है, साथही अन्न पचन में सुधार आता है।

अन्य व्याधियों की तरह उदर व्याधि की शुरुआत भी अग्निमांघ एवं आमनिर्मिती से होती है। इसीलिए विरेचन के साथ ही अग्निदीपन एवं आमपाचन यह इस व्याधि की एक महत्वपूर्ण चिकित्सा है। वातकफप्रधान उदर में अग्निदीपन एवं आमपाचन कार्य के लिए क्रव्याद रस अत्यंत उपयुक्त साबित होता है।

आमवात अथवा संधिगतवात व्याधी की सामावस्था में संधिशोथ/ आटोप, संधिग्रह, संधिशूल, संधियों में उष्ण स्पर्श आदि लक्षण होते हैं। आमवात का मूल कारण जो विषस्वरूपी ' आम ' होता है, वह आमाशय में जठराग्निमांघ की वजह से उत्पन्न होता है। क्रव्याद रस के सेवन से उपस्थित आम के पचन के साथही नई आम निर्मिती होने की प्रवृत्ती भी नष्ट हो जाती है तथा जठराग्नि प्रदीप्त होता है। आमवात अथवा संधिगतवात की सामावस्था में क्रव्याद रस का प्रयोग सिंहनाद गुग्गुल, योगराज गुग्गुल अथवा महारास्नादि काडा के साथ आग्निवर्धन हेतु उपयुक्त होता है।

प्राणवह स्रोतस् के दुष्टी कारणों में 'स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः।' अर्थात् अन्य स्रोतस् में उत्पन्न दुष्टी से प्राणवह स्रोतस् दूषित होना यह अहं हेतु माना है। श्वास व्याधी में विशेषतः अन्नवह स्रोतस् में उत्पन्न 'आम' की वजह से अन्न पचनक्रिया बिगड जाती है एवं स्रोतरोध उत्पन्न होता है। इस वजह से अपान वायु की गति प्रतिलोम हो जाती है और श्वास व्याधी की उत्पत्ती होती है। ऐसी स्थिती रहते क्रव्याद रस का प्रयोग द्राक्षासव के साथ करने से ना सिर्फ आम का पचन होता है, बल्कि अपान वायु को अनुलोम गति प्राप्त होकर श्वास वेग भी कम हो जाता है।



इसी तरह प्रमेह, पाण्डु, कुष्ठ, वातविकार जैसे व्याधियों में कफवातात्मक तथा आमजन्य लक्षण रहते क्रव्याद रस एक उत्कृष्ट अग्निदीपक, आमपाचक एवं शूलघ्न कल्प है।

शंखवटी

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०८००१८४

'शंख भस्म' इस प्रधान द्रव्य की उपस्थिती से इस कल्प का नाम शंखवटी रखा गया है। शंखवटी कज्जली, शुद्ध वत्सनाभ के साथ पंचलवण, त्रिकटु, एवं हिंग जैसे उत्तम दीपन, पाचन, शूलघ्न एवं वातानुलोमक द्रव्यों से युक्त रसकल्प है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

शंख भस्म - दीपन, पाचन, शूलघ्न, वातघ्न
चिंचा क्षार - उष्ण, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, भेदन
पंचलवण - दीपन, पाचन, वातानुलोमक
त्रिकटु - उष्ण, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन
हिंग - वातघ्न, कफघ्न, शूलघ्न, कफवातघ्न, आनाह एवं आध्माननाशक
कज्जली - योगवाही, रसायन
शुद्ध वत्सनाभ- आमपाचक, स्वेदजनन, शूलघ्न एवं वातानुलोमक, योगवाही
निंबू स्वरस- दीपन, पाचन, वातानुलोमन

शंखवटी में उपस्थित सभी घटक दीपन, पाचन होने से यह कल्प आमाशय, ग्रहणी एवं पक्वाशय पर विशेष कार्यकारी कल्प है।

विशेषतः आमाशय, ग्रहणी, पक्वाशय संबंधित उदरशूल में शंखवटी अत्यंत प्रभावी कार्य करती है। शंखवटी के सेवन से वातानुलोमन होकर शूल का नाश होता है। यदि वातवर्धक पदार्थों का अत्यधिक सेवन किया जाए, तो आनाह, आध्मान के साथ उदरशूल यह लक्षण नजर आता है। पेट फूलने से अस्वस्थता महसूस होती है। ऐसी अवस्था में उदरपटल पर नीचे की ओर से उपर की तरफ दबाव बढ़ जाने से कभी कभी श्वासकष्टता भी महसूस होती है। इन सभी लक्षणों का कारण है, अपान वायु की प्रतिलोम गति। आनाह, आध्मान, श्वासकष्टता में शंखवटी का प्रयोग द्राक्षासव, अभयारिष्ट अथवा गरम पानी के साथ करने से तुरंत वातानुलोमन होकर लाभ मिलता है।

कई रुग्णों में जीर्ण मलावष्टंभ की शिकायत रहती है। विरेचक

कल्पों के सेवन से मलावष्टंभ तो दूर होता है, पर विरेचक कल्प यदि ना लें, तो फिर से यही लक्षण नजर आता है। कई बार विरेचक कल्पों के सेवन से भी अत्यल्प लाभ ही मिल पाता है। इस स्थिती में अग्निवर्धन एवं वातानुलोमन करनेवाली 'शंखवटी' अधिक लाभदायक होती है। शंखवटी के साथ अभयारिष्ट, मायरोलैक्स लाईट का प्रयोग उपयुक्त साबित होता है।



की तकलीफ रहती है। कभी कभी इन तकलीफों की तीव्रवस्था इतनी होती है, कि मासिकस्राव के दौरान अनुत्साह, दौर्बल्य, उल्टी की संवेदना आदि लक्षण भी साथ साथ नजर आते हैं। शंखवटी उत्तम शूलघ्न एवं वातानुलोमक कल्प होने से सशूल मासिकस्राव में उपयुक्त होती है। शंखवटी का सेवन दशमूलारिष्ट के साथ करने से अधिक लाभ

मिलता है।

अतिसार एवं प्रवाहिका में द्रवमलप्रवृत्ती एवं पिच्छल मलप्रवृत्ती इन प्रधान लक्षणों के साथ उदरशूल भी होता है, जिसमें प्रकुपित वायु मुख्य कारण होता है। दीपक, पाचक एवं वातानुलोमक ऐसी शंखवटी के प्रयोग से अपान वायु का कार्य प्राकृत होकर शूल नष्ट होने में मदद मिलती है साथ ही अग्निवर्धन भी होता है।

ग्रहणी विकार में मलप्रवृत्ती का 'मुहुःबद्धंमुहुःद्रवं' यह प्रधान लक्षण होता है। ग्रहणी के हेतुओं में अग्निमांघ एवं आम निर्मिती यह दो प्रमुख हेतु होते हैं। शंखवटी उत्तम आमपाचक होने की वजह से आम निर्मितीजन्य ग्रहणी में अत्यंत उपयुक्त है।

हिक्का या हिचकियाँ, यह लक्षण अधिकतर आमाशय समीपस्थ पेशियों में आए खीचाँव (Spasm) के कारण नजर आता है। हिक्का यह लक्षण प्राण वायु के प्रतिलोम होने पर भी दिखता है। ऐसी स्थिती में शंखवटी के प्रयोग से वातानुलोमन होकर प्राण वायु की गति प्राकृत हो जाती है और उदरशूल एवं पेशियों का खीचाँव कम हो जाता है। हिक्का विकार में शंखवटी एवं द्राक्षासव का एकत्रित प्रयोग अधिक लाभदायक होता है। किन्तु पित्त प्रधान हिक्का में शंखवटी का प्रयोग सावधानी पूर्वक करें।

'न हि वाताद्गते योनि...।' वातविकृति के बिना योनीरोग होते नहीं अर्थात् हर योनीरोग की संप्राप्ति वात विकृती के कारण ही होती है। इस सूत्रानुसार स्त्रियों में योनि एवं गर्भाशय के विकारों में अपान वायु का महत्व सबसे अधिक है।

कई स्त्रियों को सशूल मासिकस्राव (Dysmenorrhoea)



शंखवटी का प्रयोग गर्भिणियों में दक्षतापूर्वक करना जरूरी है। इसकी वजह है शंखवटी का अनुलोमक गुणधर्म एवं हिंग, पंचलवण, चिंचाक्षार जैसे द्रव्यों के साथ वत्सनाभ की उपस्थिती। गर्भिणियों में शंखवटी का प्रयोग उचित मात्रा तथा योग्य अनुपान के साथ एवं काल में करना इष्ट है।

इसी तरह जिन विकारों में वातानुलोमन, शूलप्रशमन, पाचन एवं उष्णतीक्ष्णादि अग्निदीपन अपेक्षित है, उन सभी विकारों में शंखवटी का प्रयोग करना उचित एवं लाभकर होता है।

कुटजारिष्ट

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. १००००८

'कुटज' इस उत्कृष्ट पाचक एवं स्तंभक द्रव्य से बना यह कुटजारिष्ट, आंत्रों से संबंधित विकार जैसे अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में प्रभावी है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

कुटज - कुटजत्वक्श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम्।

(च.सू. २५)

स्तंभक, आमपाचक, सावशोषक, क्लेदघ्न, अर्शोघ्न, त्रिदोषघ्न - विशेषतः कफपित्तघ्न, रक्तशोधक

उपयुक्तता -

ज्वरान्प्रशमयेत्सर्वान् कुर्यातीक्षणं धनंजयम् ।

दुर्वां ग्रहणीं हन्ति रक्तातिसारमुल्बणम् ॥ भैषज्यरत्नावली अग्निमांघ जनित विकारों में ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी यह विकार महत्वपूर्ण है।

‘गुदेन बहुद्रवसरणं अतिसारम्’ - मा.नि., इस सूत्र के अनुसार, जिस व्याधि में गुदमार्ग से अत्यधिक मात्रा में द्रवमलप्रवृत्ती होती है, उसे अतिसार कहते हैं। अधिकांश रुग्णों में अतिसार व्याधि आशुकारी होती है। अग्निमांघ व्यतिरिक्त अतिसार व्याधी के हेतुओं में आम निर्मिती एवं कृमियों की भी गणना की जाती है। कुटजारिष्ट में उपस्थित कुटज उत्तम पाचक, स्तंभक एवं कृमिघ्न होने से अतिसार में अत्यंत उपयुक्त कल्प है। इससे ना सिर्फ द्रवमलप्रवृत्ति कम हो जाती है, बल्कि अग्निमांघ दूर होकर पचन सुधरता है साथ ही उदरशूल, ज्वर आदि लक्षण नष्ट होते हैं। इसी तरह ज्वर सहित अतिसार में लक्षणात्मक स्वरूप में उत्पन्न अतिसार भी कुटजारिष्ट के सेवन से नष्ट हो जाता है। ज्वरातिसार में कुटजारिष्ट का प्रयोग बृहत् कस्तूरी भैरव के साथ अधिक फलदायी होता है।

‘प्रवाहमाणस्य प्रवाहिका।’ - सु.उ.४०, प्रवाहण अथवा मलप्रवृत्ती के दौरान जोर लगाना, इस लक्षण की वजह से इस विकार को प्रवाहिका कहा जाता है। प्रवाहिका में मलप्रवृत्ती प्रायः श्लेष्मायुक्त होती है। जैसे जैसे यह व्याधी जीर्ण होता है, **‘कफमात्र निःस्सरणं’** अर्थात् गुदमार्ग से केवल श्लेष्मा ही बाहर निकल आता है। यदि यही स्थिती अधिक समय तक रहे, तो अधिकाधिक प्रवाहण करने से रक्तमिश्रित मलप्रवृत्ती होती है। साथही उदरशूल, आध्मान एवं **‘कृतेऽपि अकृत संज्ञता’** अर्थात् बहुत प्रवाहण करने के बाद भी अत्यल्प मल निस्सरण होने से मलप्रवृत्ती पश्चात् मलविसर्जन की संवेदना बरकरार रहना तथा दौर्बल्य, ग्लानि यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिती में कुटजारिष्ट से आंत्रों का स्राव एवं क्लेद शोषण होता है, आंत्र शैथिल्य दूर होता है तथा आमपाचन एवं अग्निवर्धन का कार्य भी होता है। साथही गुदमार्ग से यदि रक्तस्राव होता हो, तो उसका स्तंभन भी कुटजारिष्ट से होता है।

ग्रहणी विकार में **‘मुहुर्बद्धं मुहुर्द्वमम्’** यह लक्षण प्रमुख होता है। अग्निमांघ की वजह से अन्न का पचन योग्य तरह से नहीं होता। इसके साथ ही ग्रहणी का **अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति..।** क्रिया में बिगाड उत्पन्न होता है। इसी के फलस्वरूप साम मलप्रवृत्ती होती है। साथही मलप्रवृत्ती कभी बंधी हुई तो कभी द्रवस्वरूप में होती है। ग्रहणी विकार जितना जीर्ण हो, उतना ही आंत्र दौर्बल्य अधिक प्रमाण में होता है। ऐसी अवस्था में लक्षण अनुसार कुटजारिष्ट का प्रयोग पर्पटी कल्प जैसे सुवर्ण पर्पटी, पंचामृत पर्पटी अथवा रस पर्पटी के साथ करने से लाभ प्राप्त होता है। विशेषतः ग्रहणी की जीर्णावस्था में सुवर्ण



पर्पटी सद्य चिकित्सा तथा अपुनर्भव चिकित्सा की दृष्टि से अधिक लाभकर साबित होती है। ग्रहणी का कार्य पुनः प्रस्थापित होकर मलप्रवृत्ती योग्य स्वरूप में होने लगती है।

‘कुष्णाति वपुः तत् कुष्ठम्’ - मा.नि., जिस व्याधी में त्वचा में वैवर्ण्य उत्पन्न होता है एवं अन्य शरीर धातुओं में कोथ उत्पन्न होता है, उसे कुष्ठ कहते हैं। कुष्ठ विकार में विशेषतः कफपित्तात्मक लक्षण रहते कुटजारिष्ट का प्रयोग किया जाता है। रक्तशोधक, सावशोषक, कृमिघ्न, कण्डूघ्न, क्लेदघ्न गुणधर्म से कुटजारिष्ट कफपित्तात्मक कुष्ठ में उपयुक्त है। सावी कुष्ठ में कुटजारिष्ट का प्रयोग अमृतादि गुग्गुल के साथ अधिक लाभदायक होता है।

अभयारिष्ट

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. १०००२२

‘अभया’ अर्थात् हरितकी इस प्रधान द्रव्य से बना यह अरिष्ट अग्निदीपन, पाचन एवं अनुलोमन गुणों से युक्त होता है। अर्श, मलविबंध एवं अग्निमांघ में उपयुक्त होने वाला अभयारिष्ट एक उत्तम अरिष्ट कल्प है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

अभया - ‘संतर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी।’ (ध. नि.) त्रिदोषहर, दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न, विबंधनाशक, रसायन

द्राक्षा - वातपित्तशामक, मृदु रेचक, वृष्य, बृंहण
विडंग - कृमिघ्न

अर्शांसि नाशयेच्छीघ्रं तथाऽष्टान्युदराणि च।

वर्चामूत्रविबंधघ्नो वह्निसंदीपनः परः ॥ भै. र.

पुरीषवह स्रोतस् के प्रायः सभी विकारों को शीघ्र नष्ट करनेवाला अरिष्ट कल्प है, अभयारिष्ट।

अग्निमांघ की वजह से आहार का पचन योग्य समय एवं रूप में न होने से आध्मानादि के साथ ग्रथित पुरीष, मलविबंध आदि



लक्षण उत्पन्न होते हैं। मलविबंध की वजह बार बार प्रवाहण करना पड़ता है जिससे गुदगत रक्तवाहिनीयों में शिथिलता उत्पन्न होती है एवं शोथ के साथ मांसांकुर उत्पन्न होते हैं। अनुलोमक द्रव्य में श्रेष्ठ हरितकी के साथ मृदु रेचक एवं दीपकपाचक द्राक्षा जैसे द्रव्यों से यह कल्प मलप्रवृत्ती मृदु एवं आसानी से होने में मदद करता है। वातानुलोमन सुयोग्य होने से अग्नि प्रदीप्त होकर आहार पचन में सुधार होता है। इसके परिणाम स्वरूप गुदवलियों में उत्पन्न शोथ कम हो जाता है।

द्राक्षा, जिसे फलों में उत्तम माना है (द्राक्षाफलोत्तमा वृष्या ..। वा.सू.६/१९३) एवं हरितकी जो पथ्यकर औषधियों में श्रेष्ठ है (हरितकी पथ्यानां श्रेष्ठः। च.सू.२५/४०) ऐसे द्रव्यों से निर्मित यह अरिष्ट का सेवन दीर्घ काल तक कर सकते हैं।

दीर्घकालतक मलविबंध / मलावष्टंभ की तकलीफ के कारण अनेक रूग्ण तीव्र विरेचक कल्पों का सेवन बिना किसी भी वैद्यकीय सलाह से करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप आतों में अधिक रूक्षता उत्पन्न होने के साथ मलनिस्सरण क्षमता में भी कमी उत्पन्न होती है। इन रूग्णों में अभया जैसे रसायन एवं अनुलोमक द्रव्य से युक्त इस अरिष्ट के प्रयोग से आंत्रशैथिल्य दूर होकर मलनिस्सरण क्षमता बढ़ जाती है।

मल मूत्रादि का निस्सरण मुख्यतः अपानवायु की कार्यक्षमता पर निर्भर होता है। अपानवायु का कार्य बिगड़ने से मल एवं मूत्र विसर्जन उचित रूप में नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में अवयवतः विकृती न होते हुए भी मूत्रविसर्जन ठीक से नहीं होता। ऐसे समय, अभयारिष्ट जैसे अनुलोमक औषधि से अपानवायु दुष्टि दूर होने में मदद मिलती है, जिससे मूत्रविसर्जन उचित रूप से होने लगता है।

परिकर्तिका व्याधि में कठीण मलप्रवृत्ती यह प्रमुख कारण होता है। मलप्रवृत्ति एक बार में साफ न होना, अत्यधिक रूक्ष, वातप्रकोपक हेतुओं का सेवन यह मल को कठीण बनाते हैं, जिससे आगे जाकर परिकर्तिका (गुदचौर) व्याधि की उत्पत्ति होती है।



इस अवस्था में मलविबंध दूर करने के साथ वातानुलोमन कर मल को मार्दवता लाने का कार्य अभयारिष्ट करता है। इससे गुदगत व्रण (जख्म) ठीक होने में आसानी होती है। भगंदर में भी स्थानिक क्लेद एवं पूयावस्था कम करने हेतु अभयारिष्ट उपयुक्त होता है।

अग्निटुण्डी वटी

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०८०००२४

जिस तरह अग्नि के संपर्क में आकर सभी चीजों का परिवर्तन हो जाता है, उसी तरह अग्निटुण्डी वटी के सेवन से अन्न का परिवर्तन होकर आहाररस निर्माण होता है। कुचला की उपस्थिती से अग्निटुण्डी वटी उत्तम वेदनाशमन का कार्य भी करती है।

**वन्धिमांघमजीर्णं च विसूचीं ग्रहणीगदान्।
शूलं कोष्ठगतं वातरोगानन्यांश्च नाशयेत् ॥
शूलं सर्वांगजं वाऽपि शूलं वा परिणामजम् ।**

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

कज्जली - रसायन, योगवाही, कृमिघ्न
शुद्ध कुचला - शूलघ्न, कृमिघ्न, रसायन, वातवह नाडीयों के लिए बल्य, शोथघ्न
शुद्ध वत्सनाभ - आमपाचक, वेदनाशामक
यवक्षार, सज्जीक्षार - शूलघ्न, कफवातघ्न, विबंधनाशक
निंबू स्वरस - दीपन, पाचन, अनुलोमक

अजीर्ण व्याधि में विशेषतः आमशयस्थ कफ वृद्धि से उत्पन्न अग्निमांघ एवं अजीर्ण में अग्निटुण्डी वटी उपयुक्त होती है। पेट का भारीपन, अस्वस्थता, अनुत्साह, अन्नद्वेष खासकर मीठे खाद्यपदार्थों का द्वेष, मीठे डकार आना आदि अजीर्ण विकार के लक्षण रहते 'अग्निटुण्डी वटी' उत्तम असरदार साबित होती है। इसके प्रयोग से यकृतस्थ पाचक पित्त का कोष्ठ में प्रवाह बढ़ जाता है और उसके कारण अन्न का पचन योग्य तरह से होता है। इससे आमशयस्थ कफ एवं क्लेद का पाचन होकर पेट का भारीपन कम हो जाता है।

अन्न का परिणामन होते समय जो शूल उत्पन्न होता है, उसे 'परिणामशूल' कहते हैं। परिणामशूल में कफप्रधान अथवा कफवातप्रधान लक्षण रहते अग्निटुण्डी वटी उपयुक्त है। अग्निटुण्डी वटी में उपस्थित शुद्ध कुचला की वजह से शूलप्रशमन होता है तथा यवक्षार एवं सज्जीक्षार की उपस्थिती से विबंध नष्ट होता है।

आमवातं विशेषेण हन्ति ...।

अग्निटुण्डी वटी उत्तम आमपाचक,



अग्निदीपक एवं शूलघ्न होने के कारण उसका प्रयोग आमवात की सामावस्था में 'सिंहनाद गुग्गुल' के साथ करने से उत्तम लाभ मिलता है। आमनिर्मिती कम होने के साथ शूल भी कम होता है। कुचला जैसे उत्तम शूलघ्न द्रव्य की उपस्थिती से यह कार्य होता है। इसी लिए अनेक वैद्य आमवात की चिकित्सा में अग्नितुण्डी वटी का प्रयोग अवश्य करते हैं।

अतिसार व्याधी यह भी अग्निमांघजनित विकार है, जिसमें द्रवमलप्रवृत्ती यह प्रधान लक्षण होता है। विसूचिका व्याधी में वायु वृद्धि से संपूर्ण शरीर में सूचिवत् वेदना (सुईयाँ चूभने के समान वेदना), अतिसार एवं छर्दि यह लक्षण होते हैं। कृमियों की वजह से भी विसूचिका एवं अतिसार की उत्पत्ति होती है। अग्नितुण्डी वटी अग्निवर्धन कर कृमिघ्न कार्य से कृमियों को भी नष्ट करती है, जिससे द्रवमलप्रवृत्ती कम हो जाती है। साथ ही शूलघ्न कार्य से 'सूचिवत्' वेदना भी कम होती है।

यकृत् एवं प्लीहा रक्तवह स्रोतस् के मूल स्थान हैं। इनमें उत्पन्न विकृती से यकृत् प्लीहा वृद्धि एवं उदर विकार होते हैं। विशेषतः कफप्रधान अथवा कफवातप्रधान अवस्था में अरुचि, मधुरास्यता, पेट का भारीपन, त्वचा का सफेद वैवर्ण्य साथही नेत्र, नख आदि का श्वेतवर्णी होना, उदरशूल, श्वेतवर्णी पुरीष उत्पत्ति आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में अग्नितुण्डी वटी अत्यंत लाभदायक कल्प है। कुमारी आसव नं. १ के साथ अग्नितुण्डी वटी का प्रयोग करने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

शंखवटी की तुलना में अग्नितुण्डी वटी अधिक उष्ण, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, आमपाचक एवं शूलघ्न है। शुद्ध कुचला एवं विडंग की उपस्थिती से अग्नितुण्डी वटी कृमिघ्न भी है।

अग्नितुण्डी वटी एवं क्रव्याद रस की यदि तुलना की जाए, तो अग्नितुण्डी वटी यह क्रव्याद रस से सौम्य आमपाचक एवं अग्निदीपक कल्प है।

द्राक्षासव

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. १००००६

'द्राक्षा' इस प्रधान द्रव्य से बना द्राक्षासव, एक उत्कृष्ट अग्निदीपक, पाचक, मृदुरेचक एवं त्रिदोषशामक आसव कल्प है। द्राक्षासव अन्नवह स्रोतस्, रसवह स्रोतस् एवं प्राणवह स्रोतस् पर विशेष प्रभावी कल्प है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

द्राक्षा - 'द्राक्षा फलोत्तमा....' वा. सू. ६/११३ त्रिदोषशामक विशेषतः वातपित्तशामक, मधुर रस - विपाक, शीतवीर्य, बृंहण, वृष्य

'द्राक्षा..... सन्तर्पणी परा।' - राजनिघंटु

द्राक्षा को फलोत्तमा कहा गया है एवं सन्तर्पण हेतु श्रेष्ठ माना गया है।

.....ग्रहणीदीपनः परः।

अर्शां नाशनः श्रेष्ठ उदावर्तासगुल्मनुत्।

अन्नवह स्रोतस् दुष्टि के प्रमुख हेतुओं में अग्निमांघ एवं आमनिर्मिती की गणना की जाती है। अग्निमांघजनित व्याधियों में 'ग्रहणी' इस व्याधी को अत्यंत कष्टसाध्य माना जाता है। इसका कारण ग्रहणी व्याधी का चिरकारित्व है। ग्रहणी यह अवयव पाचक पित्त एवं समान वायु के स्थानों में वर्णित है। ग्रहणी में उत्पन्न दुष्टी, पाचक पित्त एवं समान वायु की विकृती को दर्शाता है। 'अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति च.....' यह ग्रहणी का प्राकृत कर्म होता है, जो ग्रहणी के दुष्टी से बिघड जाता है। इस वजह से अन्न का सम्यक् पचन नहीं होता एवं निकृष्ट आहार रस की निर्मिती होती है, जिससे धातुओं का भलीभाँती पोषण नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप धातुक्षय की अवस्था निर्माण होती है। ग्रहणी व्याधी की चिकित्सा में द्राक्षासव के साथ पंचामृत पर्पटी अथवा रस पर्पटी का प्रयोग लाभकर होता है।

काश्य व्याधि की शुरुआत अग्निमांघ एवं पचन में उत्पन्न विकृती के कारण होती है। इस अवस्था में रस से लेकर आगे की धातुओं में पोषण अभाव के कारण क्षय उत्पन्न होकर परिणामस्वरूप काश्य की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में अग्निवर्धन के साथ सन्तर्पण करनेवाले द्रव्य की अपेक्षा होती है। द्राक्षा इस सन्तर्पण करने वाले



तथा वृष्य द्रव्य एवं आसव कल्पना से तैयार यह कल्प धातु स्तर पर सन्तर्पण कार्य करता है, जिससे धातुपरिपोषण क्रम सुधरकर कार्श्य दूर होने में मदद मिलती है।

द्राक्षा यह मृदु विरेचक विशेषतः पित्तविरेचक एवं पित्तशमन करने वाला द्रव्य होने से ज्वर, पाण्डु एवं कामला इन पित्तप्रधान व्याधियों में यह अत्यंत गुणकारी साबित होता है। इन विकारों में अन्य औषधि द्रव्यों के साथ अनुपान रूप में द्राक्षासव का प्रयोग कर सकते हैं। कामला व्याधी में द्राक्षासव का प्रयोग आरोग्यवर्धनी के साथ एवं पाण्डु व्याधी में 'द्राक्षासव' का प्रयोग अभ्रलोह के साथ लाभदायक होता है।

द्राक्षासव पित्तप्रधान अर्श में एवं रक्तार्श में भी उपयुक्त होने वाला आसव है। इसके प्रयोग से अर्श में उत्पन्न दाह, शोथ कम होने के साथ रक्तस्राव बंद होने में भी मदद मिलती है।

पित्त वृद्धि से उत्पन्न लक्षण, विशेषतः साम पित्त की वजह से उत्पन्न तृष्णा, दाह, भ्रम, शिरःशूल, उदरशूल में द्राक्षासव गुणकारी साबित होता है। इन व्याधियों में द्राक्षासव के साथ सूतशेखर रस देने से अधिक लाभ होता है।

प्राणवह स्रोतस् के दुष्टी कारणों में 'स्रोतांस्यन्यैःश्च दारुणैः' यह हेतु मिलता है। अन्नवह स्रोतस् में उत्पन्न आम की वजह से स्रोतोरोध होता है, अपान वायु उर्ध्व गति को प्राप्त होता है तथा प्राण वायु एवं उदान वायु के प्राकृत कर्मों में बिगाड उत्पन्न करता है। इससे श्वास एवं कास जैसे व्याधियों की उत्पत्ती होती है। ऐसे स्थिती में आमपाचनार्थ एवं वातानुलोमनार्थ द्राक्षासव का प्रयोग लाभदायक होता है।

राजयक्षा व्याधी में, विशेषतः अनुलोम प्रकार के राजयक्षा में जठराग्निमांघ एवं तत्पश्चात् निर्माण धात्वग्निमांघ से उत्तरोत्तर धातुओं का क्षय होता है। रुग्ण अतिशय दुर्बल, अनुत्साही एवं ओजहीन हो जाता है। ऐसी स्थिती में द्राक्षासव के सेवन से अग्निदीपन होकर, रुग्ण की भूख बढ़ती है, अन्न का पचन यथायोग्य होता है, धातुओं का पोषण होता है तथा शारीरिक बल वृद्धि हो जाती है। राजयक्षा में द्राक्षासव के साथ सुवर्ण वसंत मालती एवं सितोपलादि चूर्ण का प्रयोग अत्यंत उपयुक्त होता है।



द्राक्षा यह उत्तम रसायन एवं वृष्य द्रव्य होने के कारण इससे निर्मित द्राक्षासव एक बल्य कल्प के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। विविध धातुक्षयजन्य विकार एवं दीर्घकाल व्याधि पीडित रहने से उत्पन्न धातुक्षीणता में द्राक्षासव का प्रयोग निश्चित रूप से हो सकता है।

उदावर्त एवं गुल्म विकार में भी द्राक्षासव उपयुक्त है। द्राक्षासव का प्रयोग पचनशक्ति योग्य रखने के लिए भी किया जा सकता है।

कनकासव

कनकासव में कनक नाम से 'धतूर', इस वनस्पति को ग्रहण करना चाहिए, न कि सुवर्ण धातु। कनकासव यह उत्कृष्ट शोथघ्न एवं शूलघ्न कल्प है तथा प्राणवह स्रोतस् एवं अन्नवह स्रोतस् पर प्रभावी कार्य करता है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

धतूर - 'व्रणश्लेष्मकण्डुक्रिमिविषापहः'

श्वासवाहिनी विस्फारक, शोथघ्न, शूलघ्न, स्रावशोषक, कफघ्न, कृमिघ्न, कण्डुघ्न

द्राक्षा - वातपित्तशामक, मलनिस्सारक, बृंहण

धतूर इस विषद्रव्य से बना कनकासव रुग्ण को उचित मात्रा में ही देना चाहिए। क्योंकि यदि अधिक मात्रा में कनकासव दिया गया, तो धतूर के अतिप्रयोग के लक्षण दिख सकते हैं। औषधी कल्पों में विषद्रव्यों का प्रयोग शोधन पश्चात् करना ही इष्ट है। धतूर बीज का शोधन गोमूत्र में दोलायंत्र विधीसे किया जाता है। ऐसे शोधित धतूर का औषधी कल्पों में प्रयोग करने से उचित लाभ मिलता है, लेकिन विषद्रव्ययुक्त कल्पों की मात्रा निर्धारण योग्य तरह से होना चाहिए। इसलिए कनकासव की मात्रा रुग्णानुसार एवं व्याधी अनुसार सही होनी चाहिए।

निहन्ति निखिलान्श्वासान् कासं यक्ष्माणमेव च ।

क्षतक्षीणं ज्वरं जीर्णं रक्तपित्तमुरःक्षतम् ॥ भै. र.

'श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वं' - मधुकोषटीका, जिस व्याधी में वायु को उर्ध्व गति प्राप्त होती है, उसे श्वास व्याधी कहते हैं। श्वास व्याधी में श्वासकष्टता अथवा श्वासावरोध यह प्रमुख लक्षण होता है। प्राणवह स्रोतस् में उत्पन्न अवरोध से श्वसन की गति बढ जाती है। श्वास व्याधी की संप्राप्ति में वात वृद्धि से उत्पन्न प्राणवह स्रोतस् दुष्टी एवं कफ वृद्धि तथा आम निर्मिती से उत्पन्न अन्नवह स्रोतस्

दृष्टी यह दो हेतु होते हैं। चिकित्सा की दृष्टीकोन से वाताधिक्यजन्य अवस्था एवं कफाधिक्यजन्य अर्थात् मार्गावरोधजन्य अवस्था, यह दो अवस्थाएँ अहं होती हैं।

वातदुष्टिजन्य श्वास में श्वासवाहिनियों का संकोच होता है तथा मार्गावरोधजन्य श्वास में श्वासवाहिनियों में विकृत कफ अथवा क्लेद स्थित होता है एवं प्राण - उदान वायु के कार्य में बाधा उत्पन्न करता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में कनकासव अत्यंत उपयुक्त कल्प है।

कनकासव में उपस्थित शुद्ध धतूर से श्वासवाहिनी संकोच दूर होकर श्वासवाहिनी विस्तार होता है, जिससे प्राण एवं उदान वायु का आवागमन योग्य प्रकार से होता है। कनकासव के प्रयोग से श्वासवाहिनी शोथ एवं क्षोभ नष्ट होता है। साथही मार्गावरोध के हेतु - विकृत कफ तथा क्लेद को कनकासव नष्ट करता है एवं स्रावशोषण का प्रमुख कार्य करता है। वायुवृद्धीजन्य श्वास में कनकासव का प्रयोग 'श्वासकास चिंतामणि रस' के साथ एवं मार्गावरोधजन्य श्वास में कनकासव का प्रयोग 'महालक्ष्मीविलास रस' के साथ लाभदायक साबित होता है। इससे श्वसन क्रिया पुनः प्राकृत गति से होने में मदद मिलती है।

'कसनत् कास उच्यते'- च. चि. १८, जिस व्याधी में वायु कंठप्रदेश से टूटे हुए कांस्य धातु के बर्तन समान आवाज के साथ बाहर आता है, उस व्याधी को कास कहते हैं। विकृत अथवा स्त्यान कफ को बाहर निकालना, गले की खराश दूर करना, कफस्राव कम करना, श्वासनलिका का क्षोभ कम करना आदि कार्य कनकासव के उपयोग से होते हैं। कास व्याधी में कनकासव के साथ कफकुठार रस का प्रयोग लाभदायक सिद्ध होता है।



राज्यक्ष्माजन्य श्वास एवं कास तथा उरः एवं उदरप्रदेश में उत्पन्न होनेवाले शूल को नष्ट करने में कनकासव अत्यंत प्रभावी कल्प है। राज्यक्ष्माजन्य श्वास एवं कास में कनकासव को सुवर्ण वसंत मालती एवं सितोपलादि चूर्ण के साथ देने से उत्तम लाभ मिलता है।

कनकासव में उपस्थित शुद्ध धतूर उत्कृष्ट



वेदनाशामक द्रव्य है। उदरशूल एवं आंत्रज शूल में शुद्ध धतूर का यह गुण लाभ देता है। विशेषतः परिणामशूल एवं अन्नद्रवाख्यशूल में कनकासव प्रभावी औषधी कल्प है। ऐसी स्थिती में कनकासव के साथ शंखवटी का प्रयोग भी कर सकते हैं।

अश्मरी से उत्पन्न वेदना में कनकासव वेदनाशमनार्थ प्रयोग में लाया जाता है। मूत्राश्मरी अथवा मूत्रशर्करा जब मूत्रनलिका से निकलते हैं, तब तीव्र वेदना की अनुभूती होती है। उसी तरह पिताश्मरी जब पित्तनलिका में आती है, तब तीव्र उदरशूल उत्पन्न होता है। कनकासव के प्रयोग से मूत्राश्मरी एवं पिताश्मरीजन्य में राहत मिलती है।

हिक्का अर्थात् हिचकियाँ-लक्षण एवं व्याधी दोनोंही स्वरूप में नजर आती हैं। **'नाभिस्थः प्राणपवनः'** इस शारंगधर के सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि, नाभीपटल से ही श्वसन क्रिया की प्रेरणा जागृत होती है। नाभीपटल की विकृती से विशेषतः संकोच से हिक्का की उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिती में कनकासव के प्रयोग से नाभीपटल का संकोच दूर होता है तथा प्राण - उदान वायु की गति योग्य रहती है।

कपर्दिक (वराटिका) भस्म

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०२०००७

कपर्दिक अथवा कौडी से बना यह भस्म 'ग्रहणी' अवयव पर विशेष कार्यकारी है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

कपर्दिक - अग्निदीपक, पाचक, ग्राही, पित्तशामक - विशेषतः पित्त में बढ़ी हुई अम्लता कम करने में कारगर, शूलघ्न, कोष्ठस्थ वातहर एवं कफघ्न

परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशिनी।

कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा।। र. र. स.

कपर्दिक यह शंख, शौक्तिक आदि सुधा वर्ग के घटकों में से एक है। सुधा वर्ग के कल्प अन्नवह स्रोतस् में उत्पन्न विकृती कम करने के पहचाने जाते हैं। कपर्दिक भस्म त्रिदोषहर है, विशेषतः कोष्ठस्थ वातवृद्धी एवं पित्त का अम्ल गुण कम करने में प्रभावी है।

‘भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेवं परिणामजम्।’ मा. नि.

जिस व्याधी में अन्न का परिणामन अर्थात् परिपाक होते समय शूल उत्पन्न होता है, उसे परिणामशूल कहा जाता है। भोजन की पच्यमानावस्था में पित्त दोष का प्राबल्य होता है। परिणामशूल विकार में कुक्षी, उदर, पार्श्व, नाभी, बस्ति, स्तनान्तर एवं कटिप्रदेश में शूल उत्पन्न होता है। यह शूल भोजन ग्रहण करने के कुछ देर बाद शुरु हो जाता है एवं आहार का पचन होने पर अपने आप ही कम हो जाता है। कभी कभी शूल उत्पन्न होने पर छर्दि भी होती है, जिसके पश्चात शूल कम हो जाता है। अम्लपित्त व्याधी में भी छर्दि पश्चात शूल कम हो जाता है। ऐसे स्थिती में केवल अन्न का पचन होते समय शूल उत्पन्न होना एवं तत्पश्चात शूल थम जाना, इस लक्षण से ही परिणामशूल को पहचाना जा सकता है और इसीलिए यह परिणामशूल का प्रत्यात्मलिङ्ग माना जाता है। अम्लपित्त व्याधी में दिन के किसी भी समय शूल उत्पन्न होता है। अन्न के परिपाक पर अम्लपित्तजन्य शूल निर्भर नहीं होता। परिणामशूल में पित्त एवं वात दोष की विकृती होती है। ऐसे स्थिती में कपर्दिक (वराटिका) भस्म अत्यंत उपयुक्त है। मख्खन अथवा मलाई के साथ देने से कपर्दिक (वराटिका) भस्म परिणामशूल में बेहद असरदार साबित होता है। इसी तरह कपर्दिक भस्म युक्त कल्प जैसे प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) एवं कामदुघा (मौक्तिकयुक्त) भी परिणामशूल में उत्तम लाभ देते हैं।

ग्रहणी व्याधी में ग्रहणी इस अवयव में विकृती उत्पन्न होती है, जिससे ग्रहणी में अन्न ग्रहण करने का (अन्नं गृह्णाति..) कार्य विकृत हो जाता है। ग्रहणी व्याधी में वात एवं पित्त प्रधान दोषदुष्टि रहते कपर्दिक (वराटिका) भस्म लाभ देता है। इससे ना सिर्फ वातानुलोमन एवं विकृत पित्त पाचन होता है, बल्कि ग्रहणी इस अवयव का शैथिल्य भी दूर हो जाता है। विशेषतः ग्रहणी में आम निर्मिती होने से उत्पन्न तीव्र शूल में कपर्दिक (वराटिका) भस्म उपयुक्त होता है।

‘अम्लगुणोद्विक्तं पित्तं अम्लपित्तम्।’, अर्थात् पित्त की अम्ल गुण वृद्धी यह अम्लपित्त व्याधी का प्रत्यात्मलिङ्ग है। ऐसे स्थिती में कपर्दिक (वराटिका) भस्म के प्रयोग से अम्लगुणधर्मी पित्त का पाचन होता है, एवं अम्लपित्त में लाभ मिलता है।

अतिसार व्याधी में यदि आमनिर्मिती, यह प्रमुख हेतु हो, तो ऐसे आमातिसार



में आमपाचनार्थ कपर्दिक (वराटिका) भस्म का प्रयोग उपयुक्त होता है। ग्रहणी एवं पक्वाशय पर कार्यकारी होने से एवं अपने दीपन, पाचन, ग्राही गुणधर्मी से कपर्दिक (वराटिका) भस्म अतिसार की सामावस्था में असरदार साबित होता है।



‘रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः।’ - च. चि. ४, रक्तपित्त व्याधी में रक्त में विकृत पित्त की मात्रा बढ़ने से रक्त दूषित हो जाता है। रक्तपित्त इस व्याधी में रक्त में पित्त की गुणवृद्धी विशेषतः उष्ण, द्रव एवं अम्ल गुणवृद्धी हो तो, कपर्दिक (वराटिका) भस्म उपयुक्त है।

कपर्दिक (वराटिका) भस्म का प्रयोग शहद, मख्खन अथवा मलाई के साथ ही करना चाहिए ताकि मूँह के अंदर के भाग से इसका प्रत्यक्ष संपर्क कम से कम आए, अन्यथा इसके प्रयोग से मूँह अथवा जिह्वा में छाले उत्पन्न हो सकते हैं।

शंख भस्म

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०२००१६

‘शंख’ इस सुधा वर्ग के महत्वपूर्ण घटक से बना हुआ भस्म है, शंख भस्म।

दक्षिणावर्तशंखस्तु प्रशस्तो देवपूजने।

वामावर्ताभिधः शंखः.....वैद्येस्तु मारणार्थं प्रयुज्यते।। रसरतरंगिणी

शंख दो प्रकार के होते हैं - दक्षिणावर्त एवं वामावर्त। दक्षिणावर्त शंख देवपूजन के लिए इस्तमाल किए जाते हैं तथा वामावर्त शंख सुलभता से मिलने की वजह से वैद्य औषधी प्रयोग में इन्हे इस्तमाल करते हैं।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

शंख - उष्ण, अग्निदीपक, आमपाचक, ग्राही, द्रवांश शोषक विशेषतः पित्त में बढा हुआ द्रवांश कम करे, क्षार गुणधर्मी

शंख भस्म अपने अग्निदीपक, पाचक एवं उष्ण गुणधर्म से अग्निमांघ एवं अजीर्ण विकारों में अत्यंत उपयुक्त कल्प है। विशेषतः आम निर्मिती, क्लेद अथवा कफ वृद्धि से उत्पन्न अग्निमांघ एवं अजीर्ण में शंख भस्म अधिक लाभदायक साबित होता है। ऐसी अवस्था में शंख भस्म निंबू स्वरस अथवा घृत के साथ प्रयुक्त करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में अम्लविपाकी जल के सेवन तथा उत्पन्न अग्निमांघ से अम्लपित्त व्याधी की उत्पत्ति होती है। अम्लपित्त व्याधी की सामावस्था एवं निरामावस्था, इन दो अवस्थाओं में विशेषतः सामावस्था रहते शंख भस्म उपयुक्त है। आम का पाचन एवं अग्निवृद्धि करने की क्षमता इन गुणधर्मों के साथही शंख भस्म का क्षारीय गुणधर्म अम्लपित्त व्याधी में लाभ देता है। शंख भस्म यह सुधा वर्ग का होने से उत्तम द्रवांश शोषक है, विशेषतः पित्त में बढ़ा हुआ द्रवांश कम करने में असरदार साबित होता है। अम्लपित्त व्याधी में शंखभस्म का प्रयोग आमलकी चूर्ण के साथ करना इष्ट है। इससे अम्लपित्त व्याधी के लक्षण जैसे छर्दि, हल्लास, उदरशूल, उदरदाह तुरंत कम हो जाते हैं।

वर्षा ऋतु में अन्न पचन क्रिया में बिगाड आने से आध्मान, उदरशूल, मलविबंध होना आम बात है। यदि यह लक्षण अथवा विकार, आम अथवा क्लेदक कफ वृद्धि से उत्पन्न हो तो शंख भस्म का प्रयोग लाभ देता है। निंबू स्वरस के साथ देने से अग्निवृद्धि होती है तथा वातानुलोमन होकर उदरशूल एवं आध्मान नष्ट हो जाते हैं। साथही सम्यग मलप्रवृत्ती होकर मलविबंध दूर होता है। सुधा वर्ग का कल्प होने से तथा क्षारीय गुणधर्म से शंखभस्म यह ग्रहणी एवं पक्वाशय संबंधित विकारों में लाभदायक है, जिनमें अतिसार, विसूचिका एवं ग्रहणी विकारों की गणना की जाती है।



**यदा पक्वोऽप्यतीसारः सरत्येव मुहुर्मुहुः ।
ग्रहण्या मार्दवाज्जन्तोस्तत्र संस्तंभनं हितम्॥** सु. 3. ४० / ६८

अतिसार की पक्वावस्था अर्थात् पक्वातिसार में द्रवांश का शोषण, अग्निवर्धन तथा ग्रहणी इस अवयव का ग्रहण कार्य बढ़ाने के लिए शंख भस्म का प्रयोग पुष्यानुग चूर्ण जैसे स्तंभक कल्पों के साथ करने से लाभ प्राप्त होता है। 'तक्र' अनुपान रूप में देने से अतिसार व्याधी जल्द नष्ट हो जाती है।

विसूचिका व्याधी में अतिसार की अपेक्षा लक्षणाधिक्य होता है एवं तीव्रता अधिक होती है। आंत्रों के साथ यकृत एवं प्लीहा में उत्पन्न विकृती से विसूचिका व्याधी में द्रवमलप्रवृत्ती, छर्दि, उदरशूल, दौर्बल्य, भ्रम यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिती में शंख भस्म अथवा शंख भस्म युक्त कल्प जैसे कामदुघा (मौक्तिकयुक्त), प्रवाल पंचामृत (मौक्तिकयुक्त) उपयुक्त है।

ग्रहणी व्याधी में विशेषतः कफज ग्रहणी में शंख भस्म अग्निवर्धन एवं पाचन हेतु अत्यंत उपयुक्त है। शंख भस्म से ग्रहणी इस अवयव की विकृती नष्ट होती है तथा अन्न का ग्रहण कार्य सुधरता है। ऐसी स्थिती में शंख भस्म निंबू स्वरस अथवा तक्र के साथ प्रयोग करना इष्ट है। शंख भस्म युक्त शंखवटी भी कफज ग्रहणी की अवस्था में उपयुक्त है।

मुखदूषिका अथवा तारुण्यपिटिका यह तारुण्यावस्था में उत्पन्न होनेवाला त्वचा विकार है। बाल्यावस्था में कफ दोष का प्राधान्य होता है तथा किशोरावस्था एवं तारुण्यावस्था में पित्त दोष का प्राधान्य होता है। पित्तवर्धक आहार - विहार की वजह से यह मुखदूषिकाएँ उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिती में क्षारीय गुणधर्म एवं पित्त दोष के द्रवांश शोषण हेतु शंख भस्म का प्रयोग लाभकर है। आमलकी चूर्ण के साथ देने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

सिंहनाद गुग्गुलु

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०४०००६४

व्याधिप्रत्यनिक अमृता विशेष शोधित गुग्गुलु और एरंड स्नेह युक्त सिंहनाद गुग्गुलु यह आमवात तथा मार्गाविरोधजन्य वातव्याधि में प्रभावी कल्प है। सिंह जिस प्रकार अपनी शिकार पर हावी हो, जाता है उसी प्रकार यह कल्प आमवात तथा कुष्ठ, उदर आदि विकारों का नाश करता है।

प्रमुख घटक द्रव्य एवं गुणधर्म -

त्रिफला - त्रिदोषशामक विशेषतः कफपित्तघ्न, सरगुणयुक्त, दीपन, कुष्ठहर

शुद्ध गंधक - दीपन, पाचन, क्लेद, आम शोषक, कुष्ठनाशक, कृमिहर

एरंड - आमपाचक, विरेचक, वातहर

अमृता विशेष शोधित गुग्गुलु - दीपन, वातहर, विबन्धनाशक, वेदनाशामक, कुष्ठहर, दाहहर

‘आमवात’ व्याधी की संप्राप्ति में आम उत्पत्ति तथा वातप्रकोप यह मुख्य घटनाएँ कारण है। प्रकुपित वायु के कारण आम संचारित होकर विशेषतः श्लेष्मस्थानों अर्थात् संधियों में संश्रय करता है।



‘वातपित्तकफैर्भूवो दूषितः।’ यह स्पष्ट होता है कि ‘आमवात’ में आम तीनों दोषों से दुष्ट होता है अतः इस व्याधि में संचारी संधिशूल, उष्ण स्पर्श, गौरव, अरुचि यह लक्षण एक साथ दिखाई देते हैं। आमवात में आम अतिशय पिच्छल होता है। आमवात व्याधि में ‘सिंहनाद गुग्गुलु’ विशेषतः आमपाचन, शोथहर और शूलहर कर्म करता है। त्रिफला अपने दीपन, पाचन, सर गुणधर्मों से आमपाचन, वातानुलोमन करने के साथही आम की पिच्छलता दूर करने में मदद करता है। अमृता विशेष शोधित गुग्गुलु से भी दीपन, आमशोषण तथा शूलहर कर्म होता है।

आमवात चिकित्सा की दृष्टिसे एरंड स्नेह इस कल्प का सबसे महत्वपूर्ण घटक है। आमपाचन और विरेचन के लिए एरंड यह सर्वोत्कृष्ट द्रव्य है। आमवात व्याधि के अतिपिच्छल आम का निर्हरण एरंडस्नेह से हो जाता है। एरंड दीपन - पाचन गुणधर्मों से आम का पाचन करता है तथा अपने वातहर कर्म से वातानुलोमन कर संधिशूल तथा शोथ में भी लाभकर साबित होता है। इसीलिए कहा गया है,

**आमवातगर्जेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः।
एकमेवनिहन्त्यास्ति एरंडगजकेसरी।।**

‘सिंहनाद गुग्गुलु’ आमवात के साथ साथ सभी वातव्याधियों में - विशेषतः मार्गाविरोधजन्य वातव्याधियों में लाभकर साबित होता है। इनमें वात दोष के साथ व्याधिनुसार कफ अथवा आम का संबंध अवश्य होता है। अतः चिकित्सा में दीपन, आमपाचक, वातहर गुणोंसे युक्त सिंहनाद गुग्गुलु प्रभावी है। उपरोक्त गुणधर्मों के साथही एरंड स्नेहयुक्त होने से यह मृदु वातानुलोमक भी है। इन सबके कारण स्रोतरोध दूर



होकर वायु को अपनी प्राकृत गती प्राप्त होती है और सम्प्राप्ति भंग होने में मदद मिलती है। दशमूलारिष्ट जैसे वातहर कल्पों के साथ प्रयोग करने से यह अधिक प्रभावी साबित होता है।

त्रिफला, शुद्ध गंधक, अमृता विशेष शोधित गुग्गुलु जैसे घटक द्रव्यों के कारण सिंहनाद गुग्गुलु कुष्ठरोग में भी उपयुक्त कल्प है। कुष्ठ संप्राप्ति में त्रिदोष दुष्टि के

साथ त्वचा, रक्त, मांस तथा लसिका इनकी भी दुष्टि होती है। बिभितक के - कफघ्न, आमलकी के - पित्तघ्न और हरीतकी के - वातघ्न कर्म के कारण त्रिफला त्रिदोष शामक है तथा कषाय रस प्रधान होने से मांसदुष्टि में विशेष कारगर है। गुडुचि त्रिदोषशामक होने के साथ ही उत्तम रक्तशोधक है। शुद्ध गंधक रक्तशोधक, क्लेदनाशक, कण्डुनाशक और कृमिहर है और इन गुणधर्मों से कुष्ठ में सर्वतः उपयुक्त है। एरंड स्नेह क्लेदनिर्हरण तथा अनुलोमन कर्मों से कुष्ठ में लाभकर है।

अर्थात् ‘सिंहनाद गुग्गुलु’ आमपाचन, क्लेदशोषण तथा निर्हरण शूलहर, शोथहर इन कर्मों से विशेषतः सावी तथा शोथ, शूल युक्त त्वचा विकारों में लाभकर होता है। विशेषतः महामंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान के साथ उसकी उपयुक्तता बढ़ जाती है।

कई जगह सिंहनाद गुग्गुलु में जयपाल का प्रयोग कर पतले दस्त करवाए जाते हैं, लेकिन आमपाचन करने का अपेक्षित लाभ उसमें नहीं मिल पाता। यहाँ प्रयुक्त किया एरंड स्नेह जितनी मात्रा में अपेक्षित है, वह जुलाब या पतले दस्त करवाने के बजाय सूक्ष्म स्रोतसों में स्थित ‘आम’ का पचन करता है, यह ध्यान में लेना आवश्यक है।

योगराज गुग्गुलु

एस्.डी.एस्. मोनोग्राफ क्र. ०४०००८४

दशमूल विशेष शोधित गुग्गुलु और दीपन पाचन द्रव्यों से युक्त ‘योगराज गुग्गुलु’ सभी प्रकार की वातव्याधियों में अत्यंत प्रभावी कल्प है। विशेषतः स्रोतरोधात्मक संप्राप्ति में यह लाभदायक साबित होता है।

मुख्य घटक द्रव्य एवं गुणधर्म

शुंठी - आमपाचन, स्रोतरोधनाशक, दीपन
अजमोदा - दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन
चित्रक - दीपन, पाचन, शूलनाशन
हिंगु - दीपन, पाचन, अनुलोमक, शूलप्रशमन, जंतुघ्न
त्रिफला - कफपित्तघ्न, अनुलोमक, दीपन
दशमूल विशेष शोधित गुग्गुलु - वातहर, शूलप्रशमन, शोथहर

जब वातव्याधियों में स्रोतरोध होता है, तब वातहर द्रव्यों के साथ आमपाचन और वातानुलोमन द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में आवश्यक होता है। 'योगराज गुग्गुलु' में दशमूल विशेष शोधित गुग्गुलु, रेणुकाबीज जैसे वातहर द्रव्य, शुंठी, पिप्पली, चित्रक, जीरकादि दीपन, पाचन द्रव्य, त्रिफला, अजमोदा, हिंगु आदि शूलप्रशमन और अनुलोमक द्रव्य इनका उत्कृष्ट संयोग है। यही कारण है कि, यह कल्प स्रोतरोधजन्य वातव्याधियों में संप्राप्ति भंग कर, वात को उसकी प्राकृत गति प्राप्त कराने में मदद करता है। साथ ही शोथ, शूल यह लक्षण कम करता है। संधिगत वात की स्रोतरोधात्मक संप्राप्ति में यह 'व्याधिप्रत्यनिक' कल्प समझा जाता है और नियमित रूप से प्रयुक्त किया जाता है।

इस पर स्वर्गीय वैद्यराज अंतरकरजीने किया हुआ अध्ययन अत्यंत शास्त्रीयता से ग्रंथोक्त बात की पुष्टि करने में और उसे आज के युग के चिकित्सकों के सामने रखने में बहुमोल साबित हुआ है।

अग्निमांघ ग्रहणी व्याधी का मूल हेतु है। अग्निमांघ के रहते अहितकर आहार - विहार सेवन करने से ग्रहणी रोग की उत्पत्ती होती है। द्रव, साम, दुर्गंधीयुक्त, 'मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्' प्रकार की मलप्रवृत्ती यह इस व्याधी का प्रत्यात्मलिङ्ग है। ग्रहणी व्याधी संप्राप्ति में अग्निमांघ का महत्व देखते हुए दीपन, पाचन द्रव्यों का उपयोग चिकित्सा में करना चाहिये। कहाँ गया है,



'ग्रहणीमाश्रित दोषमजीर्णवदुपाचरेत्।' अ.ह.चि. १०/१ ग्रहणी व्याधी में अजीर्णवत् चिकित्सा करनी चाहिये। शुंठी, पिप्पली, अजमोदा, चित्रक, जीरक जैसे दीपन पाचन द्रव्यों से युक्त 'योगराज गुग्गुलु' ग्रहणी चिकित्सा में उपयुक्त कल्प है। विशेषतः ग्रहणी की आमावस्था में जहाँ आमपाचन के साथ अनुलोमन की आवश्यकता होती है वहाँ हिंगु, त्रिफला जैसे अनुलोमक घटकों से युक्त यह कल्प लाभदायक साबित होता है। पर्पटी कल्प के साथ उपयोग करने से यह ग्रहणी रोग में उत्तम लाभ देता है।

दीपन, पाचन, अनुलोमन, शूलप्रशमन कर्म युक्त यह कल्प अरुचि, अग्निमांघ और उदरशूल जैसे लक्षणों में लाभदायक है। अतः जहाँ यह लक्षण दिखाई देते हैं वहाँ व्याधी अनुसार योगराज गुग्गुलु का उपयोग किया जा सकता है। भास्कर लवण चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण जैसे कल्पों के साथ उपरोक्त लक्षणयुक्त व्याधियों में 'योगराज गुग्गुलु' का प्रयोग किया जा सकता है।

कुष्ठ व्याधी में शोथ, शूल, साव जैसे लक्षणों के रहते योगराज गुग्गुलु का उपयोग किया जा सकता है। त्रिफला तो कुष्ठहर है ही, साथही विडंग जैसे कृमिहर और कुटकी जैसे भेदन द्रव्य होने से कुष्ठ में इसकी उपयुक्तता बढ़ जाती है। यह दोषों के शमन में सहाय्यक होने के साथही, रक्तदुष्टि, शोथ, शूल दूर करने में भी उपयुक्त होता है। कुष्ठ चिकित्सा में गंधक रसायन, महामंजिष्ठादि काढा जैसे कुष्ठहर कल्पों के साथ योगराज गुग्गुलु का प्रयोग करने से कुष्ठ के पीडादायक लक्षण कम होने में मदद मिलती है।



अधिक जानकारी के लिए कृपया संपर्क करें;
स्वास्थ्य सेवा विभाग

श्री धूतपाश्वर लिमिटेड

१३५, नानुभाई देसाई रोड, खेतवाडी, मुंबई - ४०० ००४
फोन : ९१-२२-३००३ ६३००
फैक्स : ९१-२२-२३८८ १३०८
ई-मेल : healthcare@sdiindia.com
वेब साईट : www.sdiindia.com

केवल पंजीकृत चिकित्सक, अस्पताल या प्रयोगशालाओं के लिए
© All Rights Reserved